

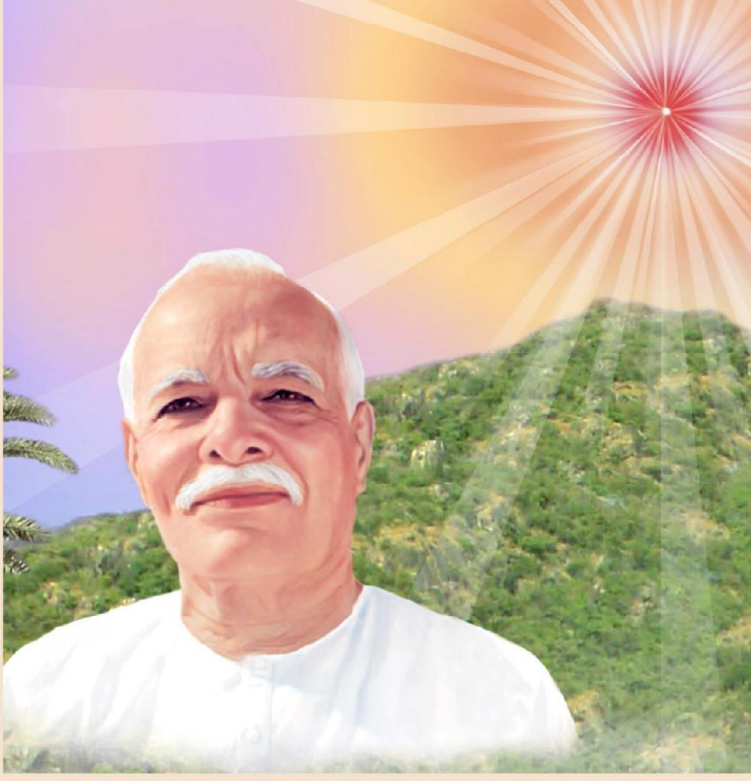
ईश्वरीय संदेश के संवाहक - प्रजापिता ब्रह्मा

हम प्रायः नहीं जानते कि हम क्या हैं? हम यह भी नहीं जानते कि हमारा 'होना' किस मतलब से है? हम हमारे आसपास फैले चेतन और जड़ अस्तित्व के आपसी व्यवहार-व्यापार का रहस्य भी नहीं जानते। पर कुछ लोग ऐसे हुए हैं, जिनके बारे में हम जानते हैं कि वे इन सब प्रश्नों को जानते थे। इसीलिए हमने उन्हें अलौकिक पुरुष कहा। वे थे तो हमारी ही तरह पर उनके बोल, व्यवहार और अनुभव हमसे भिन्न थे। बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण आदि इसी तरह के अलौकिक पुरुष हैं। राम और कृष्ण ऐसे ही देवरूप हैं और पैगम्बर मोहम्मद साहब या ईश्वरीय संतान क्राइस्ट इसी अर्थ में देवदूत माने जाते हैं। ऐसे अलौकिक पुरुषों में से एक तथा कई अर्थों में भिन्न है दादा लेखराज। अलौकिक पुरुषों की जो भी कसौटियां हो सकती हैं, वे दादा लेखराज पर पूरी खरी उतरती हैं। उनका पूरा जीवन वृत्तांत दरअसल, परमात्म-सत्ता के रूपायित होने और परमात्म-कार्य को सम्पन्न करने की ही कथा है।

1876 में सिंध में वैष्णव कृपलानी परिवार में जन्मे दादा लेखराज बचपन से वृद्धावस्था तक एक साधारण ईश्वर भक्त के रूप में ही कार्य-व्यवहार करते रहे। उनका जवाहरात का व्यवसाय था। वे बोलने में मधुर और दिखने में आकर्षक थे। वे राजा-महाराजा और रईसों को पसंद थे। इस कारण उनका व्यवसाय खूब चलता था।

एक सुखी गृहस्थ के रूप में दादा लेखराज के पास सब कुछ था। सुखी और बड़ा परिवार, बेटा-बहू, धन-जायजाद और समाज में सम्मान। उनके एक गुरु भी थे जिनकी सेवा-चाकरी वे पूरी श्रद्धा से करते थे। उन्हें ईश्वर के प्रति लगाव था। वे पूजन-भजन भी करते थे और दान-दक्षिणा में कभी कंजूसी नहीं करते थे।

1936 के आसपास, जब उनकी आयु साठ वर्ष की हो चुकी थी, उनमें अचानक ही परिवर्तन आया। यह परिवर्तन एकदम आकस्मिक था। एक तरफ तो, कहीं वे धन कमाने के कारण व्यवसाय से उपराम होने की सोच ही नहीं रहे थे और वहीं दूसरी तरफ, अब उनका मन व्यवसाय से उचटने लगा था। उनको अब एकांत अच्छा लगता था। ऐसा क्यों हो रहा है, उन्हें कुछ समझ नहीं पड़ता था। पर वे जानते थे कि उनका मन जैसे संसार से मुड़कर कहीं अन्य स्थिति में रमने लगा है। ऐसी दोहरी दशा में ही एक दिन जब वे बम्बई में एक मंदिर में चल रहे सत्संग में बैठे थे, उनका मन एकाएक अशरीरी हो गया। उस हालत में वे सत्संग से उठकर वहीं सामने मकान के एक कमरे में एकांत



में बैठ गये। उस समय उनकी भाव-दशा कुछ वैसी ही थी जिसे भावाविष्ट भी कहा जा सकता है। इसी दशा में उन्हें, उस एकांत कमरे में, चतुर्भुज विष्णु का साक्षात्कार हुआ।

दादा लेखराज जब इस भाव-दशा से बाहर आये तब वे कौतुहल से भरे हुए थे। उन्हें इस तरह की भावाविष्ट दशा भी पहले-पहले हुई थी। साक्षात्कार भी पहली बार ही हुआ था। उन्होंने कभी ऐसा चाहा या मांगा नहीं था। उन्होंने अपने आसपास भी ऐसा होते नहीं देखा था। यह उनके लिए अनोखा, किन्तु आनंददायक अनुभव था। उन्होंने यह घटना अपने गुरु को भी बताई और इस बारे में मार्गदर्शन चाहा। पर उनके गुरु इस घटना को समझ नहीं पाये।

इस प्रथम साक्षात्कार के बाद फिर ऐसी ही अनचाही, आकस्मिक घटनाओं का सिलसिला शुरू हो गया। उन्हें विभिन्न देवताओं तथा निराकार प्रकाश-स्वरूप शिव परमात्मा के साक्षात्कार हुए। उन्हें विश्व में हो रही घटनाओं तथा आगे होने वाली घटनाओं के भी दर्शन हुए तथा उनकी आगामी भूमिका के बारे में अव्यक्त ढंग से भान हुआ। उन्होंने सारी सृष्टि का सनातन चक्र भी देखा। शिव, गीता और कल्प-वृक्ष में परिभ्रमण करती आत्माओं का यह ज्ञान कुछ ऐसा था, जो अब तक बताये गये ज्ञान एवं जानकारियों से भिन्न है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान भी नितांत नया था। दादा लेखराज, उन्हें जो हो रहा था, उसे मिथ्या कहकर न तो छोड़ सकते थे ना उस दर्शन को अमान्य कर सकते थे, जिसे उन्होंने ज्ञान के रूप में पाया था और अनुभव किया था।

ज्ञान की इस गंगा में नहाकर दादा

लेखराज अब पूरी तरह बदल चुके थे। उनमें आया परिवर्तन एकदम रूहानियत से भरा हुआ था। जो लोग उनको जानते थे, उनके लिए दादा अब बिल्कुल बदले-बदले लगते थे। बोल, व्यवहार, चाल सभी कुछ बदल चुका था। उन्होंने जो ज्ञान पाया था वह प्रचलित ईश्वरीय ज्ञान से भिन्न था। पर दादा लेखराज जिस अधिकार भरी वाणी में उसे बताते थे, उससे लगता था कि उन्हें अपने ज्ञान पर तनिक भी संदेह नहीं है। 1936-37 में अपने इस अनुभव एवं बोध के बाद उन्होंने अपने को शिव परमात्मा प्रदत्त अपनी ब्रह्मा भूमिका के लिए सौंप दिया। उनका यह ज्ञान-यज्ञ 'ओम मंडली' से प्रारंभ होकर 'प्रजापिता ब्रह्मावुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय' में रूपांतरित हुआ और सतत विस्तार पाता रहा। 18 जनवरी 1969 की उनकी देह अव्यक्त होने के बाद भी आत्माओं को पवित्र एवं दिव्य गुणों से सम्पन्न बनाकर नव-विश्व का सृजन करने के लिए प्रारंभ हुआ यह यज्ञ अब भी जारी है और वे ही अब भी ज्ञान-यज्ञ के सूत्रधार हैं।

वह देह, जिसमें परमात्म-सत्ता आई हो या उसे संस्कारित करके गई हो, चुम्बक की तरह अपने पास आने वाले लौह-कणों में स्फुरण पैदा किये बिना नहीं रहती। यह उसका एक तरह से नैसर्गिक गुण हो जाता है। हमने, आपने इतने अनुभव प्रसंग पढ़े-सुने या देखे हैं, उनमें ऐसा सदा ही हुआ कि परमात्मा की लय में नाचा व्यक्ति अपने पास आये व्यक्ति में नाच पैदा नहीं करता, वह तो स्वतः हो जाता है। ऐसे बुद्ध पुरुषों के प्रभाक्षेत्र में प्रवेश करते ही आपको बदलाव महसूस होने लगता है। दादा लेखराज के पास जाते ही स्त्री, पुरुष तथा बालक उनकी दृष्टि

1936 के आसपास, जब ब्रह्मा बाबा की आयु साठ वर्ष की हो चुकी थी, उनमें अचानक ही परिवर्तन आया। यह परिवर्तन एकदम आकस्मिक था। एक तरफ तो, कहीं वे धन कमाने के कारण व्यवसाय से उपराम होने की सोच ही नहीं रहे थे और वहीं दूसरी तरफ, अब उनका मन व्यवसाय से उचटने लगा था। उनको अब एकांत अच्छा लगता था। ऐसा क्यों हो रहा है, उन्हें कुछ समझ नहीं पड़ता था। पर वे जानते थे कि उनका मन जैसे संसार से मुड़कर कहीं अन्य स्थिति में रमने लगा है। ऐसी दोहरी दशा में ही एक दिन जब वे बम्बई में एक मंदिर में चल रहे सत्संग में बैठे थे, उनका मन एकाएक अशरीरी हो गया। उस हालत में वे सत्संग से उठकर वहीं सामने मकान के एक कमरे में एकांत में बैठ गये। उस समय उनकी भाव-दशा कुछ वैसी ही थी जिसे भावाविष्ट भी कहा जा सकता है। इसी दशा में उन्हें, उस एकांत कमरे में, चतुर्भुज विष्णु का साक्षात्कार हुआ।

पाते ही भावाविष्ट हो जाया करते थे। ऐसे अनेको लोग अभी हैं जो यह बताते हैं कि उन्हें दादा के पास जाने पर भिन्न-भिन्न रूपों अथवा लोकों के साक्षात्कार हुए। उनसे मिलकर आया हुआ शायद ही कोई ऐसा हो, जो यह न कहे कि यह व्यक्ति तो अनूठा है। महसूस करने की इसी स्थिति को संभवतः रूहानियत या भागवत अनुभव कहा जाता है।

रूहानियत या भागवत अनुभव का एक अन्य रूप भी है। अब तक यही अनुभव है कि जिसने अनुभव किया हो, ऐसे व्यक्ति के पीछे ही लोग अनुभव पाने के लिए चले हैं। अनुभव पाने वालों का किस्सा सुनाने वालों अथवा उनकी व्याख्या करने वाले पंडितों या व्याख्याकारों के पीछे जमाते नहीं चलीं। यदि चलीं भी तो कुछ दूर या देर तक ही। कारण, शायद यही रहा होगा कि जिसने स्वयं ही नहीं जाना, वह बतायेगा भी क्या?

फिर, जिन्होंने जाना उनमें से भी ज्यादातर लोग तो मौन हो गये। इसलिए कि उस ज्ञान या अनुभव को कहना उन्हें नहीं आता था। जिसने भी ऐसी सम्बोधि पाई उसके लिए वह अनुभव था और बिल्कुल नया। उसे कह पाना सरल कभी नहीं रहा। वही कह पाये जिन्हें बताने की भूमिका भी सौंपी गई। बता पाने की यह क्षमता भी उसी परमात्म-सत्ता की देन कही जा सकती है। कहने वाला तो प्रायः अपने को मात्र माध्यम अथवा निमित्त मानता है। इसीलिए तो ऐसा होता है कि लोग सिर्फ बुद्ध, महावीर, रामकृष्ण या ऐसे ही जान लेने वालों के पीछे चले। और उनमें भी उनके पीछे दूर और देर तक चल पाये। जिनको संभवतः परमात्मा ने ही कोई निमित्त भूमिका सौंपी थी।

दादा लेखराज न तो शास्त्रों के ज्ञाता थे, न तो भाषा के विद्वान। उन्होंने

तो उस परमात्म-सत्ता को जाना भर था और परमसत्ता ने ही उन्हें युगनिर्माण के कार्य के लिए चुना था। इस तरह से वे ईश्वराधिकृत निमित्त थे। इसलिए लोग उनसे जानने के लिए उनके पास जमा हो गये। उन्होंने भी अपनी साधारण बोलचाल की भाषा में ही उस ईश्वरीय ज्ञान को साधिकार बताया जिसे बताने में सामान्यतः भाषा भी डगमगाने लगती है। इस रूप में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उनके माध्यम को परमात्म सत्ता ने अपने कार्य का निमित्त बनाया था। इसी भूमिका के बारे में तो गीता का वचन है - 'यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। रामचरित मानस में इसे इस तरह बताया गया - 'जब-जब होई धर्म की हानि, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी, तब-तब प्रभु लै मनुज शरीरा, हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा।

इसी भूमिका के लिए निमित्त बने दादा लेखराज ने अपनी वाणी से अपने ज्ञान की गंगा में जिनको भी सराबोर किया वे फिर लौटकर नहीं गये। 1937 से प्रारंभ हुआ यह ज्ञान-यज्ञ कभी कमजोर नहीं पड़ा वरन् लगातार ज्ञान-पिपासुओं को आकर्षित करता रहा है। यह भी एक बड़ी कसौटी है जिस पर दादा लेखराज कई महापुरुषों में आगे खड़े दिखाई पड़ते हैं। दादा लेखराज ने जब सर्वप्रथम ज्ञानामृत-पान किया था, तब अपने एक पत्र में अपने घरवालों को लिखा था - पा लिया वह सब, जो पाना था। अब कुछ बाकी नहीं रहा।

उनके इस ज्ञान से नहाये लोग भी अब यही कहते हैं - पा लिया जो पाना था, अब कुछ शेष नहीं। यही सच्चे अनुभव की कसौटी है।